गेरोना (स्पेन)
१२ मार्च, २००४

संदेश संख्या – ६६
धार्मिक जीवन और धार्मिक चेतना

प्राचीन मानवीय प्रज्ञा–श्रीमद् भगवद्गीता के १८ अध्यायों की तरह १८ बोध–युक्त उक्तियाँ निम्नलिखित हैं–

१. धार्मिक जीवन का अर्थ है–'जो है' यानी यथार्थ के प्रति जागरूक होने के लिए ऊर्जा का संचय, न कि 'ऐसा होना चाहिए' की चाह में ऊर्जा का क्षय। धार्मिक जीवन 'होने' अर्थात् वर्तमान के प्रति जागरूकता है, न कि कुछ 'बनने' की मनोव्यथा । धार्मिक जीवन, अस्तित्व के प्रत्येक स्तर पर द्वैत एवं परस्पर विरोधी तत्वों के प्रति तटस्थ रहता है और इस तरह यह प्रतिक्षण दिव्यता एवं सर्वव्यापकता को प्राप्त होता है।

२. धार्मिक चेतना में किसी भी प्रकार के विश्वास या अविश्वास का बंधन नहीं होता । यह सर्वथा निर्दोष अर्थात् पूर्वाग्रहों से मुक्त रहने की अवस्था है। इसमें किसी के प्रति कोई पूर्व धारणा, छवि या राय नहीं होती । इसमें तो केवल कम का आनन्द रहता है न कि परिणामजन्य सफलता की खुमारी या विफलता का दंश । धार्मिक जीवन का किसी भी बहाने कोई प्रयोजन नहीं होता ।

३. धार्मिक चेतना गुणातीत अवस्था है जिसमें गुणों अर्थात् विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों का रूपान्तरण एवं उदात्तीकरण हो जाता है । यह तो मुक्ति, प्रेम एवं समझदारी की अवस्था है ।

४. धार्मिक चेतना समत्व में स्थित होती है। यहाँ कोई प्रतिक्रिया, प्रतिशोध, विद्वेष या पश्चात्ताप नहीं होता । 'मैं' या 'नामविशेष' केवल पहचान के लिए संदर्भ–बिन्दु होता है जो कि पासपोर्ट, वाहन–चालन अनुज्ञा पत्र, क्रेडिट कार्ड आदि के लिए उपयोगी होता है । यहाँ 'मैं' दावा, दंभ या किसी प्रकार के स्वामित्व बोध का पोषक नहीं होता ।

५. धार्मिक जीवन में ''मैं'' के किसी प्रयास या आत्म–केन्द्रित गतिविधियों के बिना ही, घटनाएँ कुशलतापूर्वक एवं सहजता से घटित होती हैं ।

६. धार्मिक चेतना ईश्वर या स्वर्ग की खोज नहीं करती । यह लालच और घृणा के प्रति जागरूक रहकर इन मानसिक प्रदूषणों से भी मुक्त हो जाती है ताकि पावन एवं गहन दिव्यता अवतरित हो सके।

७. धार्मिकता कोई कैथोलिक, हिन्दू, मुस्लिम या कोई यहूदी होने अथवा इस बाबा या उस माता, इस पंथ या उस सम्प्रदाय से जुड़ने की भावुकता नहीं है। यह पुरोहित या तथाकथित गुरुओं द्वारा शोषण की अनुमति नहीं देती।

८. धार्मिक चेतना प्राच्य समाज के दस हजार वर्ष या पाश्चात्य समाज के दो हजार वर्ष के प्रचार का परिणाम नहीं है । यह इस प्रकार के संगठित प्रचार से उत्पन्न सभी प्रकार के विवादों, विरोधाभासों एवं भ्रांतियों से पूर्णतया मुक्त होती है।

६. गहन चिन्तन (स्वाध्याय), अभ्यास (तप) और प्रत्यक्षबोध (प्रणिधान) तथा सत्–चित्–आनन्द (निर्दोष जीवन, निर्मल चेतना एवं शुद्ध आनन्द) ही धार्मिक जीवन है । हर प्रकार की लालसा और आदत से मुक्त होना ही धार्मिक जीवन का वास्तविक मर्म है । यह मन का अभाव है, निर्मन है, प्रेम है, जीवन का उत्कष है ।

१०. धार्मिक चेतना प्रशान्त, जीवन्त एवं संवेदनशील होती है और इसीलिए यह अपरिमेय और अनाममय अस्तित्व के बोध को उपलब्ध हो पाती है।

११. धार्मिक जीवन विभेदकारी चित्तवृत्ति से मुक्त होता है यद्यपि यह चित्तवृत्ति दैनिक कार्यों के सम्पादन हेतु कार्य करती ही रहती है। ऐसे जीवन में बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी गतिविधियाँ ज्वार–भाटे की तरह मिलकर एकात्मक लय बन जाती हैं।

१२. धार्मिक चेतना में सत्ता का कोई केन्द्र नहीं होता। यह अनाम और एकाकी होती है । यह प्रभावों, आदर्शों, सांस्कृतिक निवेशों (परम्परागत विशेषताओं) और अनुबन्धों से मुक्त होती है। इसी के परिणामस्वरूप इसमें सुख–बोध एवं आनन्द से युक्त एक निरहंकारी, उपाधि शून्य और अनुबंधन रहित समझदारी का उदय होता है।

१३. धार्मिक चेतना किसी विशेष वेश–भूषा और आकषक एवं चमक–दमक वाले विभिन्न रंगीन परिधानों को धारणकर पहचान और सम्मान की अपेक्षा नहीं रखती । यह लोगों को प्रभावित करने हेतु विचित्र केश–विन्यास, सिर–श्रृंगार या विभिन्न प्रकार की दाढ़ी–शैली आदि में लिप्त नहीं होती ।

१४. धार्मिक चेतना के पास सत्य के मर्म को समझने की सामर्थ्य होती है । इसके लिए यह किसी व्यक्ति या पुस्तक का अनुसरण नहीं करती । यह अनुगमन या अनुकरण नहीं करती, बल्कि स्वतंत्र होती है । इसे गढ़ा या किसी

साँचे में ढाला नहीं जा सकता और तभी इसमें 'परम–पावन' उपलब्ध होता है। यह किसी की नकल या प्रतिलिपि नहीं होती, अपितु यह मौलिक और सर्जनात्मक होती है । यह सर्जनात्मकता 'मेरी', 'तेरी', या 'इसकी', 'उसकी' नहीं है, अपितु यह अनाममय अस्तित्व की है । दंभी ''मैं'' की स्थापना निपट स्वार्थ है और यह सर्जनात्मकता के सर्वथा विपरीत है ।

१५. धार्मिक चेतना वास्तविक क्रांतिकारी चेतना है और यह प्रत्येक चुनौती के प्रति यथेष्ट अनुक्रिया उत्पन्न करती है । यह प्रेम को जानती और समझती है, इसीलिए यह किसी को चोट नहीं पहुँचाती या किसी की हत्या नहीं करती । ऐसी स्थिति में ही, वास्तविक सुख और आनन्द से युक्त एक भिन्न समाज, भिन्न संस्कृति एवं भिन्न विश्व का निर्माण संभव है ।

१६. एक धार्मिक व्यक्ति अगणित कमकाण्ड, अखण्ड संकीर्तन या मन्त्रोचार करने, संन्यास लेने, गीता, कुरान, बाइबिल या अपने खास विश्वास या मत की अन्तहीन व्याख्या करने में नहीं लगा रहता । जो ऐसा करता है, वह वास्तव में अपनी बाध्यताओं, द्वन्द्वों एवं अनुबन्धनों की वास्तविकता से केवल पलायन कर रहा होता है । ऐसा भ्रांत व्यक्ति इनमें अपने अहंकार–वृद्धि, अहं–विस्तार, आक्रामकता तथा प्रभुत्व के लिए स्थान खोजता रहता है। ऐसे व्यक्तियों में प्रभुत्व की असीम लालसा होती है । वस्तुतः यह लालसा पदविशेष के गरिमामय मधुर शब्दों में आवृत्त होती है । लेकिन धनलोलुपता, धृता और मात्सर्य के विकार, ऐसे व्यक्ति और उसके मनोवृत्ति वाले सहचरों द्वारा पोषित किये जाते हैं। उनकी गतिविधियों से संघर्ष, असहिष्णुता और दूसरी अन्यान्य विकृत अभिव्यक्तियाँ जन्म लेती हैं और पोषित होती हैं । 'सत्य' के साथ खिलवाड़ करने वाले ऐसे तथाकथित सन्त मानवता के लिए घोर संकट होते हैं ।

१७. एक धार्मिक व्यक्ति अपने संचित लोभ के भण्डार की पूर्ति हेतु एवं भय के निवारण हेतु स्वयं द्वारा निर्मित एक छवि को भगवान के रूप में प्रक्षेपित (प्रस्तुत) कर, उससे याचक की तरह प्रार्थना नहीं करता । दूसरी किसी बाह्य सत्ता के प्रति याचना द्वैत उत्पन्न करती है और यह द्वैत 'स्व' में स्थित 'परम पवित्र' के प्रति गहन समझदारी को बाधित करता है। जब तुम अर्थात् चित्तवृत्ति अपने द्वारा खोदे गए गड्ढे से बाहर निकलकर नदी रूपी नैसर्गिक जीवन–प्रवाह में लय हो जाते हो, तब जीवन विस्मयकारी रूप से अपनी देखभाल स्वयं करता है क्योंकि तब वहाँ छुद्र एवं तुच्छ चित्तवृत्ति का कोई हस्तक्षेप नहीं होता । तब सुरक्षा, सान्त्वना और आत्म–रक्षा की समस्या भी नहीं रह जाती क्योंकि वास्तविक 'तुम' चित्तवृत्ति नहीं, जीवन हो । तब तुम इसकी चिन्ता नहीं करते कि लोग क्या कहते हैं या नहीं कहते। यही जीवन का आनन्द है, सौन्दर्य है, मंगल है ।

१८. धार्मिक व्यक्ति किसी धर्म या जाति या देश से बँधा नहीं होता । वह शून्यता की ऊर्जा में होता है और उसके लिए 'होना' (अस्तित्व) ही 'परमपवित्र' का आशीर्वाद है। वह पूर्ण समझदारी, प्रशांति और निश्चेता को उपलब्ध कदाचित् २०–२५ लोगों के छोटे समूह से संबंधित होता है जो समय–समय पर बिना किसी राशि या सदस्यता शुल्क के, सत्य, दिव्यता एवं पवित्रता आदि के बोध संबंधी विषयों पर चिन्तन हेतु मिलते हैं। ऐसे समूह को अनन्य (विशि) बनने से रोकने हेतु समय–समय पर प्रत्येक सदस्य को दूसरे छोटे समूह में शामिल होने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है ताकि यह और व्यापक तथा उदार हो सके, न कि संकुचित और सीमित बना रहे । इन छोटे किन्तु प्रबोधयुक्त समूहों का कोई सदस्य मारने एवं मरने, दुःखी करने या दुःखी होने की संस्कृति से पूर्णतया मुक्त एक विवेकपूर्ण शांत, सुखी एवं आनन्दमय विश्व की रचना में सहायक हो सकता है ।

धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्

सर्वव्यापक चैतन्य का शरीरी चेतना में प्रवेश हो ।